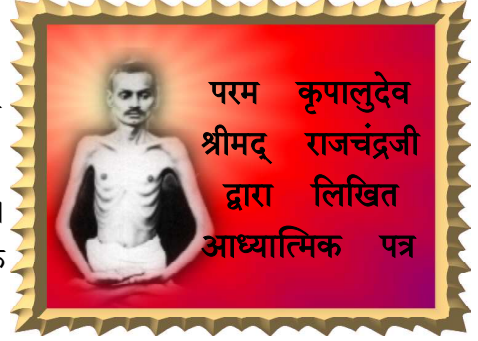


पत्रांक-२१२ बंबई, माघ वदी, १९४७

सत्को नमोनमः

वांछा-इच्छाके अर्थमें 'काम' शब्द प्रयुक्त होता है; तथा पंचेंद्रिय-विषयके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है।

'अनन्य' अर्थात् जिसके जैसा दूसरा नहीं, सर्वोत्कृष्ट। 'अनन्य भक्तिभाव' अर्थात् जिसके जैसा दूसरा नहीं ऐसा भक्तिपूर्वक उत्कृष्ट भाव।



मुमुक्षु वै. योगमार्गके अच्छे परिचयवाले हैं, ऐसा जानता हूँ। सद्वृत्तिवाले योग्य जीव है। जिस 'पद'का आपने साक्षात्कार पूछा, वह अभी उन्हें नहीं हुआ है।

पूर्वकालमें उत्तर दिशामें विचरनेके बारेमें उनके मुखसे श्रवण किया है। तो उस बारेमें अभी तो कुछ लिखा नहीं जा सकता। परंतु इतना बता सकता हूँ कि उन्होंने आपसे मिथ्या नहीं कहा है।

जिसके वचनबलसे जीव निर्वाणमार्गको पाता है, ऐसी सजीवनमूर्तिका योग पूर्वकालमें जीवको बहुत बार हो गया है; परन्तु उसकी पहचान नहीं हुई है। जीवने पहचान करनेका प्रयत्न क्वचित् किया भी होगा, तथापि जीवमें जड़ जमाई हुई सिद्धियोगादि, ऋद्धियोगादि और दूसरी वैसी कामनाओंसे जीवकी अपनी दृष्टि मलिन थी। यदि दृष्टि मलिन हो तो वैसी सत्मूर्तिके प्रति भी बाह्य लक्ष रहता है, जिससे पहचान नहीं हो पाती; और जब पहचान होती है, तब जीवको कोई ऐसा अपूर्व स्नेह आता है, कि उस मूर्तिके वियोगमें एक घडीभर भी जीना उसे विडंबनारूप लगता है, अर्थात् उसके वियागमें वह उदासीनभावसे उसीमें वृत्ति रखकर जीता है; अन्य पदार्थोंका संयोग और मृत्यु-ये दोनों उसे समान हो गये होते हैं। ऐसी दशा जब आती है, तब जीवको मार्ग बहुत निकट होता है ऐसा समझें। ऐसी दशा आनेमें मायाकी संगति बहुत विडंबनामय है; परन्तु यही दशा लाने का जिसका दृढ़ निश्चय है उसे प्रायः अल्प समयमें वह दशा प्राप्त होती है।

आप सब अभी तो हमें एक प्रकारका बंधन करने लगे हैं, इसके लिये हम क्या करें यह कुछ सूझता नहीं है। 'सजीवनमूर्तिसे' मार्ग मिलता है ऐसा उपदेश करते हुए हमने स्वयं अपनेआपको बंधनमे डाल लिया है कि जिस उपदेशका लक्ष्य आप हमको ही बना बैठे हैं। हम तो उस सजीवनमूर्तिके दास हैं, चरणरज है। हमारी ऐसी अलौकिक दशा भी कहाँ है कि जिस दशामें केवल असंगतता ही रहती है? हमारा उपाधियोग तो, आप प्रत्यक्ष देख सकें, ऐसा है।

ये अंतिम दो बातें तो हमने आप सबके लिये लिखी हैं। हमें अब कम बंधन हो ऐसा करनेके लिये आप सबसे विनती है। दूसरी एक बात यह बतानी है कि आप हमारे लिये अब किसीसे कुछ न कहें। आप उदयकाल जानते हैं।

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४६: अंक-२६६, वर्ष-२४, फरवरी-२०२०

आषाढ कृष्ण ३, मंगलवार, दि. ५-७-१९६६, योगसार पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-७२, प्रवचन-२६

अब, 'पुण्य कर्म सोने की बेड़ी है।' ७२, पुण्यभाव सोने की बेड़ी है। स्वर्ण है... स्वर्ण। पाप लोहे की बेड़ी है, पुण्य सोने की बेड़ी है; दोनों बेड़ी है। सोने की बेड़ी में तो अन्दर फँसे रहते हैं, लोहे की बेड़ी तो कैद में हो तो वहाँ तक रहती है। यह तो हमेशा उत्साह से ऐसी की ऐसी रखते हैं। गहने और पैर में बँधी बेड़ी है या क्या? है? उत्साह से पहनते हैं, उत्साह से दिखाते हैं, देखो! पाँच हजार का हार है, सोने का हार है, कण्ठी है, कड़े में यहाँ सोने का मुँह है, सिंह के मुँह में हीरे टाँगे हैं, हीरे लगाये हैं, यह तो बेड़ी पहनकर प्रसन्न होता है। लोहे की बेड़ी पहने तो यह नहीं, यह नहीं। यह तो कहते हैं, पुण्य सोने की बेड़ी है, वह नहीं मानता। बेड़ी में - पुण्य के बन्धन में आ जाता है। आत्मा तो भगवान पुण्य-पाप रहित है, इसकी उसे खबर नहीं है।

जह लोहम्मिय णियड बुह तह सुणम्मिय जाणि।

जे सुह असुह परिच्चयहि ते वि हवंति हु णाणि॥ ७२॥

'हे पण्डित! 'बुह' आचार्य महाराज योगीन्दुदेव

वनवासी दिगम्बर सन्त हैं। वनवासी दिगम्बर सन्त कहते हैं, हे पण्डित जीव! हे जीव पण्डित! ऐसा कहकर बुलाया है। पण्डित तो उसे कहते हैं कि..... समझ में आया...! 'जैसे लोहे की बेड़ी है, वैसी ही सोने की बेड़ी है, ऐसा...' समझ, तो तू पण्डित है, विवेकी है, तब तू जीव है। समझ में आया। पाप का भाव लोहे की बेड़ी है, पुण्य का भाव सोने की बेड़ी है; दोनों का बन्धन है, वे जीव-स्वरूप नहीं हैं। जीव-स्वरूप को माननेवाले धर्मी को कहते हैं कि, हे धर्मी! हे पण्डित! हे जीवस्वरूपी आत्मा! तुझे तो पुण्यभाव और पापभाव दोनों बन्धन में समान हैं। समझ में आया?

'जो शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के भावों का त्याग करते हैं...' पहले ऐसा कहा कि ऐसा समझ। समझ में लेता है कि पुण्य और पाप दोनों बन्ध के कारण हैं, मेरा आत्मास्वभाव ही शुद्ध आनन्द का कारण, मुक्ति का कारण है। फिर छोड़ दे... शुभाशुभभाव छोड़ और शुद्धभाव में आ जा। भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध आत्मा से तो भरपूर है, उसमें आ जा; शुभभाव को छोड़ दे। 'परिच्चयहि' कहा न? 'ते वि हवंति हु णाणि' उसे ज्ञानी

कहा जाता है। कहो, दृष्टि में दोनों को छोड़े तो ज्ञानी कहलाता है। पुण्य ठीक है और पाप अठीक है - ऐसा जब तक मानता है, वहाँ तक वह मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? अद्भुत बात, पुण्य बात बहुत कड़क। एक तो पैसा और प्रतिष्ठा और शरीर ठीक (होवे तो) ऐसा मीठा लगता है...! ज़हर मीठा लगता है। स्त्री, पुत्र और पैसा, परिवार... ओ...हो...! महल-मकान, मकान। दुनिया में ठाठ तो पुण्य का है न? दुनिया में ठाठ तो पुण्य का ही होता है न? धूल में

दुनिया में... धर्मी का ठाठ तो अन्दर आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र करना, वह धर्मी का ठाठ है। आहा...हा...! समझ में आया? सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव ऐसा फरमाते हैं कि भगवान! तेरी चीज में तो आनन्द और शुद्धता पड़ी है न! उसकी श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र - रमणता करना, वही तेरा ठाठ है, सब तो अर्थी है। ठाठ की हो गयी अर्थी। समझ में आया। अर्थी मस्तिष्क में आयी तो 'गुणवन्त' याद आया। कहो, समझ में आया इसमें?

कहते हैं कि शुभ-अशुभभाव का त्याग... आहा...हा...! शरीर तो जड़, कर्म जड़, वह तो ज्ञेय है - ज्ञान का विषय है। पुण्य-पाप के भाव वे भी वास्तव में अपनी चैतन्यजाति से भिन्न अचेतन है। पुण्य-पाप के भाव में चैतन्य के तेज-नूर का उनमें अभाव है। समझ में आया? भगवान परमेश्वर-तीर्थकर फरमाते हैं, अरे...! धर्मी! यदि तुझे आत्मा

का स्वभाव प्रीति और रुचिकर हुआ है तो पुण्य-पाप को दृष्टि में से छोड़ दे। पुण्य हितकर है और पाप अहितकर है - ऐसा छोड़ दे। आहा...हा...! समझ में आया?

'पुण्य और पाप कर्म दोनों ही बन्धन हैं, पुण्य को सोने की तथा पाप को लोहे की बेड़ी कह सकते हैं। दोनों ही कर्म संसारवास में रोकनेवाले हैं।' समझ में आया? 'जब दोनों बेड़ियों का विघटन होता है...'

'तोड़ना होता है' - ऐसा चाहिए। 'तब ही यह जीव स्वाधीन मोक्षसुख को पाता है।' पुण्य और पाप का दोनों का विघटन अर्थात् एक ही होकर टूट जाये, अकेला भगवान आत्मा शुद्ध रहे, तब स्वाधीन होकर आत्मा की मुक्ति होती है। 'इसीलिए ज्ञानी को पुण्य-पाप दोनों ही प्रकार के बन्धनों को हेय समझना उचित है।' पुण्य और पाप दोनों भाव को ज्ञानी हेय समझे। उसमें एक उपादेय और एक हेय - ऐसा नहीं है।

'मन्दकषाय के भावों को शुभोपयोग...' मन्दकषाय होती है, दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा, यात्रा, वाचन, श्रवण में शुभभाव होता है, वह मन्दकषाय है। 'हिंसा, झूठ आदि तीव्र कषाय के भावों को अशुभोपयोग कहते हैं। दोनों से बन्ध होता है, चार घातिकर्म अथवा बन्ध दोनों उपयोग से होता है।' दोनों उपयोग से होता है। क्या कहते हैं? जैसे हिंसा, झूठ, चोरी,



क्रोध, मान (आदि) अशुभ उपयोग से घातिकर्म - ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय बँधते हैं। ऐसे ही शुभ उपयोग से भी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय मोहनीय बँधते हैं। समझ में आया? जैसे पापपरिणाम से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय बँधते हैं; वैसे ही पुण्यपरिणाम से भी चार घाति (कर्म) बँधते हैं। आहा...हा...! शुभभाव से ज्ञानावरणीय बँधता है, शुभभाव से दर्शनावरणीय बँधता है, शुभभाव से मोहनीय बँधता है। समझ में आया? चारित्रमोहनीय बँधता है या नहीं? और अन्तराय भी (बँधता है) जैसे अशुभभाव से घाति (कर्म) का बन्ध है, वैसे शुभभाव से भी घाति (कर्म) का बन्ध है ही; अघाति में थोड़ा अन्तर पड़ता है, वह तो भेष में अन्तर पड़ा। अशुभ से अघाति में पाप बँधता है और शुभ से अघाति में पुण्य बँधता है। वह अघाति, अर्थात् संयोग में अन्तर पड़ा। इसके स्वभाव में कोई अन्तर नहीं है। ओहो...हो...!

लोगों को बाहर की मिठास (महिमा इतनी है)। वस्तुतः तो जब तक अतीन्द्रिय सुख की मिठास नहीं लगे तब तक इन्द्रिय-विषय के सुख की मिठास उसे नहीं छोड़ती और उस इन्द्रियसुख की मिठास में शुभपरिणाम की मिठास रहती है। समझ में आया? शुभपरिणाम की मिठास, उसका फल बन्ध, उसका फल संयोग और उसका फल इन्द्रिय के विषय। अतीन्द्रिय आनन्द की रुचि सम्यग्दर्शन में हो तो उसे इन्द्रिय के विषयों में सुखबुद्धि उड़ जाती है। इन्द्रिय-विषय के सुख का कारण - ऐसे पुण्यभाव में से भी रुचि उड़ जाती है। समझ में आया? आहा...हा...! फिर थोड़ी लम्बी बात की है, बन्ध की बात।

‘पुण्य के फल से प्राप्त विषयभोगों के

भीतर फँस जाने से विषयी मनुष्य, नरकादि निगोद में चला जाता है।’ लो, यह पुण्य का फल! परमात्मप्रकाश में कहा है - पुण्य से वैभव, वैभव से अभिमान, अभिमान से नरक... समझे! योगीन्द्रदेव आचार्य ने कहा है कि पुण्य से वैभव (मिलता है)। यह पुण्य बाँधे तो उससे वैभव-धूल मिलती है; यह धूल... धूल...! पैसा और प्रतिष्ठा, मकान और गहने और ठाठ-बाट, हाथी, बैल और घोड़ा... मोटर तो फिर अब हो गयी है। है? हाथी, घोड़ा, बैल... ओ...हो...! पुण्य के फल में यह मिलते हैं, फिर अभिमान (करता है कि) मेरे है, तुम्हारे नहीं। धूल की चीज मेरे है, तुम्हारे नहीं। अभिमान से नरक मिलता है। जाओ, नीचे उतरो। समझ में आया?

‘देव गति में भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिषी और दूसरे स्वर्ग तक के देव मरकर एकेन्द्रिय, पृथ्वी, जल, वनस्पतिकाय में जन्म ले लेते हैं।’ देखो! आहा...हा...! पुण्य के फल में इन्द्र का, देव का पद मिले और देव मरकर एकेन्द्रिय में जाये। तृष्णा में पुण्य की इच्छा है, पुण्य का फल भोगने की भावना है - ऐसा मिथ्यादृष्टि, ऐसा कहते हैं। वह भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष या अमुक वैमानिकदेव...। समझ में आया? एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल और वनस्पति में उत्पन्न होता है। दो-दो सागर की स्थिति हों, असंख्य अरब वर्ष की स्थिति छोड़कर पृथ्वी में जाता है। पुण्य की अभिलाषा और उसके फल की अभिलाषा में मिथ्यादृष्टि मरकर एकेन्द्रिय में जाता है। दूसरे देवलोक का देव, इन्द्र नहीं। समझ में आया? पानी में जाता है, वनस्पति में उत्पन्न होता है।

‘बारहवें स्वर्ग तक के देव पञ्चेन्द्रिय पशु तक में जन्म ले सकते हैं।’ पुण्य के

फल की इच्छा और इन्द्रियसुख की इच्छावाला मिथ्यादृष्टि भले ही पुण्य के फल में बारहवें स्वर्ग में चला जाये, वहाँ भी इन्द्रिय के विषय में लोलुपता है। आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की दृष्टि नहीं है तो वह भी मरकर पशु में जाता है। बारहवें स्वर्ग का देव पशु में उत्पन्न होता है। समझ में आया? बारहवें अर्थात् वह आठवाँ देवलोक जो श्वेताम्बर का (कहना) है, वह यहाँ बारहवाँ कहलाता है। समझ में आया?

‘नौवें ग्रैवेयक तक के देव मनुष्यरूप से जन्मते हैं।’ वे देव मनुष्य में आते हैं, कहते हैं।

‘विषयभोगों की आकुलता वह तृष्णारूपी रोग है।’ उसे तृष्णा रोग हुआ, पुण्य की अभिलाषा से पुण्य बँध गया। पुण्य अर्थात् शुभभाव हुआ, बँध गया (और) स्वर्ग में नौवें ग्रैवेयक तक चला गया। वहाँ से मरकर मनुष्य होकर तृष्णा का रोग हुआ क्योंकि पुण्य की इच्छा हुई आत्मा के आनन्द की दृष्टि नहीं थी। नौवें ग्रैवेयकवाले लिये हैं। मिथ्यादृष्टि है न? इनकी बात करते हैं, हाँ! मिथ्यादृष्टि को तृष्णा रोग लागू पड़ा है। ‘आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं’ वह भ्रान्ति, आत्मा को भूलकर इन्द्रिय के सुख में और पुण्य में प्रीति (होना), वही बड़ी भूल और भ्रान्ति है। नौवें ग्रैवेयक में शुभभाव से गया, वहाँ से निकलकर मनुष्य हुआ तो वह मिथ्यादृष्टि है। इन्द्रियसुख की रुचि है तो तृष्णा का रोग चालू है। तृष्णा का रोग लागू हुआ है। आत्मा की भावना तो है नहीं, पुण्य की-पाप की भावना है। तृष्णा का बड़ा रोग लागू पड़ा है। यह बड़े चक्रवर्ती आदि तृष्णा में रोगी हैं - ऐसा कहते हैं। पैसेवाले तृष्णा के रोगी हैं, चारों ओर भटका करते हैं, यह... पैसा, यह... पैसा, यह... पैसा। इन्द्रियसुख के फल भोगने की इच्छा

में तृष्णा का रोग लागू पड़ा है। भटकते रहते हैं। जैसे गरीब मनुष्य भटकता है, ऐसे यह भिखारी होकर लाओ... लाओ... लाओ... लाओ... (करता है)। फिल्म में से पैसा लाओ, दूसरा क्या? नाटक में से लाओ, मकान में से लाओ, भाड़े में से लाओ। भाड़ा समझते हो? भाड़ा को क्या कहते हैं? किराया, उसमें से लाओ। तृष्णा का रोग लगा है। भगवान आत्मा आनन्द का घर है, उसकी तो दृष्टि है नहीं, तो उसे पुण्यपरिणाम की रुचि है; तृष्णा का रोग लागू हुआ है, क्षय लागू हुआ है, क्षयरोग। आत्मा की शान्ति को क्षयरोग लागू हुआ है।

‘रोग से पीड़ित प्राणी घबराकर विषयभोगों में तृष्णा के शमन के लिये जाता है। भोग करके क्षणिक तृप्ति उस समय पाकर फिर और अधिक तृष्णा को बढ़ा लेता है, दुःखों के साधनों में जो आकुलता है, वैसी ही आकुलता तृष्णारूपी रोग के बढ़ने में होती है।’ दोनों को समान लगाया है। ठीक लिखा है। कहते हैं कि जैसे, दुःखों के साधन में आकुलता होती है, हथियार सामने आवे, रोग सामने आवे और दुःखी होता है, ऐसा ‘(वैसी ही) आकुलता तृष्णारूपी रोग की वृद्धि में होती है।’ इस तृष्णारूपी रोग में आकुलता बढ़े, वह बड़ा रोग है - ऐसा कहते हैं। क्या कहा? दुःख का साधन जैसे सिंह, बाघ, हथियार, रोग आवे और आकुलता होती है; उसी प्रकार आकुलता तृष्णारूपी रोग के बढ़ने में होती है। तृष्णारूपी रोग बढ़ा उसमें आकुलता बढ़ती है, वह आकुलता बड़ी। समझ में आया?

‘इस जीव ने बार-बार देवगति तथा मनुष्यगति में पाँच इन्द्रियों के विषयभोग भोगे हैं...’ अनन्त बार स्वर्ग के भोग भोगे, नरक का दुःख सहन किया, मनुष्य के राजपाठ में भी अनन्त

बार जन्मा और भोग, भोगे (परन्तु) तृप्ति नहीं हुई। 'तृष्णा की दाह शमन न हो सकी।' क्योंकि आत्मा के आनन्द की रुचि के बिना वह तृष्णा की दाह शमन नहीं होती। 'ज्ञानीजन विषय सुख को हेय समझते हैं।' धर्मी जीव पाँच इन्द्रिय के विषय सुख को हेय - ज्ञेयरूप हेय समझते हैं, छोड़नेयोग्य समझते हैं। 'और विषयसुख के कारणरूप पुण्यकर्म को हेय जानते हैं।' ऐसा कहना है न वापस! समझ में आया? उस विषयसुख को धर्मी जीव हेय जानते हैं, 'तब विषयसुख के कारणभूत ऐसे पुण्यकर्म को हेय जानते हैं। इसीलिए पुण्यबन्ध के कारणरूप शुभोपयोग को भी हेय समझते हैं।'

तीन बोल लिये हैं। धर्मी उसे कहते हैं कि पाँच इन्द्रिय के विषयसुख को छोड़ने योग्य जाने। पाँच इन्द्रिय के विषयों को हेय जानें तो उनके कारणरूप बन्ध को भी हेय जानें; बन्ध को हेय जानें, समझ में आया? तो पुण्यबन्ध का कारण ऐसे शुभोपयोग को भी हेय जानें। तीनों ही हेय हो गये। जिसे विषयतृष्णा इन्द्रियसुख में प्रीति है, उसे पाप में प्रीति है, उसके फल में प्रीति है, तो उसकी प्रीति कर्मबन्धन में है और जिसे इन्द्रिय-विषयसुख का प्रेम है, उसका बन्ध पुण्य हो तो भी ठीक मानता है और पुण्यभाव को भी ठीक मानता है। इन्द्रिय विषयसुख को हेय मानता है, उसे पुण्यबन्ध भी हेय है और उसका कारण शुभभाव भी हेय है। क्या कहा? छह बोल हुए।

इन्द्रियविषय को सुखरूप मानता है, उसे इन्द्रियविषय के कारण जो बन्ध है, उसे सुखरूप मानता है, उसके कारणरूप भाव को भी सुखरूप मानता है। इन्द्रियविषय को सुखरूप नहीं मानता, हेय मानता है तो इन्द्रियविषय सुख का कारण जो

बन्ध, उसे भी हेय मानता है और बन्ध के कारणरूप शुभभाव को भी हेय मानता है। आहा...हा...! समझ में आया? बाह्य पदार्थ और बाह्य फल, वह जिसकी बुद्धि में अधिक दिखता है, अधिक दिखता है तो उसे फल की प्रीति आयी तो बन्धन के कारण को भी अपने आत्मा के स्वभाव से अधिक माना और बन्ध के कारण शुभभाव को भी अपने स्वभाव से भी अधिक माना। आत्मा को हीन माना। समझ में आया कुछ? क्या कहा?

भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दस्वरूप है, ऐसी जिसे रुचि नहीं है, उसे इन्द्रिय के फल विषय में रुचि है, प्रेम है, तो उसका बन्ध पड़ा, पुण्यबन्ध पड़ा, उसका भी प्रेम है और उसका कारण, शुभभाव में भी प्रेम है और आत्मा के प्रति उसे अप्रेम है। जिसे आत्मा के प्रति प्रेम है, उसे इन्द्रिय विषय के प्रति हेयबुद्धि है। तो उसके बन्ध में भी हेयबुद्धि है और बन्ध के कारण में भी हेयबुद्धि है। समझ में आया?

'(ज्ञानी) मात्र शुद्धोपयोग की भावना करता है, जिससे तिर्यञ्च में भी अतीन्द्रियसुख होता है।' देखो, क्या कहते हैं! अरे...! पशु में भी आत्मश्रद्धा, आत्मज्ञान और शुद्धोपयोग होता है तो उसे भी आनन्द आता है। पशु को खाने के लिये एक टुकड़ा नहीं मिले, अनाज का कण नहीं मिले... समझ में आया? और चार-चार पहर रात्रि में आहार का त्याग। रात्रि में कोई पानी नहीं मिलता। चिड़िया का छोटा बच्चा हो, सुबह से शाम तक पानी की बूँद नहीं, अनाज का कण नहीं और स्थान परिवर्तन नहीं (ऐसे) तीन (नहीं)। स्थान भी वही, वहाँ आसन लगा दिया, चकला कहते हैं न? चकला... चिड़िया है, मोर है, पक्षी है। देखो, एक स्थान में बारह घण्टे-तेरह घण्टे (रहते हैं)।

रात बड़ी हो तो चौदह-चौदह घण्टे (रहते हैं)। आहार की कण नहीं, पानी की बूँद नहीं, समझ में आया? परन्तु कहते हैं कि उस स्थान में भी, यदि आत्मा शुद्ध चिदानन्द की रुचि और अनुभव है तो उसे शुद्धोपयोग का आनन्द है। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी स्थिति में भी... आहा...हा...! पशु है न? मेंढक होता है, वह भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। आत्मा है या नहीं?

भगवान के समवसरण में पशु आदि सब जाते हैं, छोटा मेंढक भी जाता है, बड़े-बड़े मगरमच्छ भी जाते हैं और बड़े-बड़े सिंह-बाघ, नाग भी जाते हैं। बड़ा जहरीला नाग हो, वह रात में तो भोजन के लिए घूमता है परन्तु यह नहीं फिरता, फिर रात्रि भोजन नहीं करता। समझ में आया? जिसे आत्मा का भान हुआ और सम्यग्दर्शन आदि हुए और किसी नाग को पञ्चम गुणस्थान होता है। आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान उपरान्त शान्ति बढ जाती है वह नाग चार पहर तो बिलकुल नहीं लेता, बाहर नहीं जाता, उसमें भी उसे निर्दोष आहार मिले एकेन्द्रियादि (वह लेता है) और अन्दर शुद्धोपयोग में आनन्द मानता है। ओहो...हो...! समझ में आया!

यह चक्रवर्ती आदि और अरबोपति सेठिया आदि को अपने शुद्धस्वरूप का भान नहीं, श्रद्धा और ज्ञान की रुचि नहीं, वे पुण्य-पाप में प्रेम और रुचि करते हैं तो अकेली आकुलता को वेदते हैं। अरबोपति सेठ आकुलता को (वेदता है)। मेढी में... ऊपर की मंजिल कहते हैं? कमरे में बैठे-बैठे झूला झूलें, सोने की साँकल है, अकेली आकुलता (भोगते हैं) क्योंकि आत्मा अखण्डानन्द की रुचि तो है नहीं; पुण्य-पाप की रुचि में अकेली आकुलता का वेदन करते हैं। उस महल में विराजकर आकुलता वेदते हैं। वे पक्षी वृक्ष की डाल पर

दो पैर से (लटके / बैठे हुए) पूरी रात अन्तर में शुद्ध प्रभु आत्मा ज्ञानानन्द चैतन्य प्रभु की अनुभव दृष्टि हुई है और पुण्य-पाप के भाव को विकार, दुःखरूप देखकर छोड़ने योग्य मानते हैं। स्वभाव ही आदर करने योग्य मानकर शुद्ध व्यापार अन्दर करते हैं तो वह पशु भी आनन्द को भोगते हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

नरक में भी समकित्ती को आनन्द है। 'बाहिर नारक कृत दुःख भोगे' यह आता है न? अन्दर सुख की गटागटी... नारकी को गटागटी...। पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा... बाहर संयोग (ऐसे) ओहो...हो...! जन्में तब से सोलह रोग पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा... बाहर की। अन्तर में आत्मा की शुद्ध श्रद्धा, भान अनुभव किया है तो कहते हैं कि उस आनन्द में गटागटी करते हैं। उस आत्मा के शुद्धोपयोग की दृष्टि के कारण अतीन्द्रिय आनन्द नरक में (भी) लेते हैं और अज्ञानी ऐसे महल में बैठा हो लगे कि सुखी है (परन्तु) अकेली आकुलता में दुःखी है। समझ में आया?

'कर्मों का क्षय होता है और मोक्षमार्ग प्राप्त होता है।' लो, उसे - तिर्यञ्च को शुद्धोपयोग में कर्मों का क्षय होता जाता है, हाँ! मोक्षमार्ग प्राप्त करता है, मोक्षमार्ग बराबर शुद्ध होता जाता है। 'शुद्धोपयोग में स्थिरता की शक्ति न होने से ज्ञानी जीव शुभोपयोग में वर्तता है परन्तु पुण्य की इच्छा नहीं रखता।' लो, समझ में आया। ओहो...हो...! कहाँ पशु ज्ञानी और कहाँ मिथ्यादृष्टि सेठ और मिथ्यादृष्टि देव!

मुमुक्षु : मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी...

उत्तर : द्रव्यलिङ्गी साधु। समझ में आया?

जिसे आत्मा के आनन्दस्वभाव की रुचि नहीं है और पुण्यभाव की प्रीति-रुचि है, वह नौवें ग्रैवेयक में होने पर भी आकुलता का वेदन करता है। आकुलता... आकुलता... आकुलता...। नीचे सातवें नरक में नारकी पड़ा है, नौवें ग्रैवेयक और सातवाँ नरक। नारकी पड़ा है, कोई बड़ा राजा-महाराजा मरकर गया तो भान हो गया कि ओहो...हो...! सन्तों ने हमें कहा था कि स्वभाव का साधन करने में तू स्वतन्त्र है, बाहर के किसी साधन की आवश्यकता नहीं है। तेरा धर्म करने में पैसे का व्यय, शरीर का नाश, किसी बलवान पुरुष की मदद की कोई आवश्यकता नहीं है। (तब) नहीं माना। (अब) मैं यहाँ नरक में आया ऐसी वेदना

का ख्याल छोड़कर शान्तस्वरूप आत्मा के सन्मुख होकर सातवें नरक में नारकी समकृती आनन्द लेता है और नौवें ग्रैवेयक में मिथ्यादृष्टि जीव दुःख भोगता है। उसका कारण-हेतु स्वभाव की दृष्टि, अनुभव हुआ, शुद्ध चिदानन्दमूर्ति हूँ, बस! उस अनुभव में आनन्द है और अज्ञानी को पुण्य की प्रीति पड़ी है, वह भले ही स्वर्ग में जाये तो भी अकेली आकुलता का वेदन करता है।

प्रवचनसार की बात की है। पुण्य है अवश्य ऐसा। परन्तु उस पुण्य के कारण से दुःखी है। 'देवादि तृष्णा के कारण से दुःखी होते हैं।' पुण्य का फल है, पुण्य का अस्तित्व है, उसका फल भी है परन्तु तृष्णा में दुःखी है।

धार्मिक कार्यक्रम

सौम्यमूर्ति पूज्य भाईश्री शशीभाई के वार्षिक समाधिदिन पर तीन दिवसीय धार्मिक कार्यक्रम निम्नोक्त स्थान पर आयोजित किया गया है। चैत सुदी ३, शुक्रवार दि.२७-३-२०२० से चैत्र सुदी ५, गुरुवार दि.२९-३-२०२० पर्यंत जिनमंदिर में मंडलविधान रखा गया है। एवं 'शशीप्रभु साधना स्मृति मंदिर' में प्रातः ७.०० से ८.०० पूज्य भाईश्री शशीभाई का सीडी प्रवचन, दोपहर ४.०० से ५.०० गुणानुवाद, रात ८.०० से ९.०० पूज्य भाईश्री शशीभाई का वीडियो प्रवचन एवं भक्ति रखी गई है। दि.२९-३-२०२०, चैत्र सुदी ५ के दिन सुबह ४.०० बजे 'शशीप्रभु साधना स्मृति मंदिर' में भक्ति एवं दो मिनट का मौन रखा जायेगा। तत्पश्चात् ७.०० से ८.०० प्रवचन और बाद में पूज्य भाईश्री के समाधि स्थल पर भक्ति रखी गई है। इस प्रसंग पर आनेवाले मुमुक्षुओं के लिए आवास एवं भोजन व्यवस्था निःशुल्क रखी गई है। आनेवाले मुमुक्षु भाई-बहनों से विनम्र सूचन है की वे अपने आने कि सूचना पहले से दे, ताकि उनके आवास एवं भोजन की समुचित व्यवस्था हो सके।

संपर्क :- श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८०, जूनी माणेकवाडी, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मार्ग, भावनगर, फोन : (०२७८) २५१५००५



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार
ग्रंथके वचनामृत-१३४ पर भाववाही
प्रवचन, दि.१४-१२-१९८२, प्रवचन
क्रमांक-४१ (विषय : मार्गदर्शन)

कार्यकारी नहीं रहता। क्योंकि उसका लक्ष्य नहीं है। ऐसा है।

उसके एक बहुत अच्छा दृष्टान्त यह है कि, व्यापार में मुनाफ़ा करने का प्रयोजन है। फिर माल की खरीदने का प्रसंग हो या माल बेचने का प्रसंग हो। दोनों परस्पर विरुद्ध प्रक्रिया है। खरीदने की प्रक्रिया अलग है, बेचने की प्रक्रिया अलग है। बेचते समय ऐसा है कि किस तरह मैं अधिक से अधिक कीमत लूँ। खरीदते समय ऐसा है कि कम से कम कीमत में खरीदूँ। लक्ष्य दोनों में एक ही है। भिन्न-भिन्न भेद से व्यापार होनेपर भी लक्ष्य तो अखण्ड एक ही रहता है।

(गतांक से आगे...)

आचार्यदेवों ने अनेक शक्तियों का वर्णन किया, आत्मा के अनेक गुणधर्मों का वर्णन किया। इन ४७ नयों में उसके अनेक गुणधर्मों का (वर्णन है)। गुण एवं धर्म, इन सब का वर्णन कहाँ-से किया? कि ज्ञान में तो आया है। ज्ञान में आये बिना उसका वर्णन कैसे करे? ज्ञान में आने के बावजूद उसका अवलंबन नहीं लेते और उसका लक्ष्य नहीं रखते। जो एक स्वभाव, अभेद स्वभाव, अखण्ड स्वभाव है, उसका लक्ष्य करने योग्य है, उसके लक्ष्य को छोड़े बिना वह सब चलता है।

जितना भेद का वर्णन चलता है उस भेद का वर्णन भी अभेद के लक्ष्य से चलता है। अभेद के लक्ष्य से भेद का वर्णन। ठीक! भेद और अभेद प्रतिपक्ष होनेपर भी, भेद और अभेद परस्पर विरुद्ध होनेपर भी भेद का वर्णन उपयोग देकर करना पड़ता है कि ऐसा गुण है, ऐसा धर्म है, ऐसी नय है, फिर भी अभेद के लक्ष्य से वह चलता है। अभेद के लक्ष्य से चलता है अर्थात् उसकी जो मोक्षमार्ग की परिस्थिति है वह मिटती नहीं। और जितना भेद विकल्प उत्पन्न होता है उतना राग होता है। जितना भेद पड़ता है उतना राग होता है। वह राग

इसप्रकार कोई भी उदयभाव में, कोई भी उदय में ज्ञानी की प्रवृत्ति में ज्ञान का लक्ष्य नहीं बदलता। यह लक्ष्य करने हेतु उसे प्रथम से ही समझाया जाता है कि गुण-पर्याय के भेद हैं उसे गौण करना होता है, उसे लक्ष्यमें से एक बार छोड़ देना पड़ता है। समझने के काल में जो गुण-पर्याय के भेद से समझाने में आया था उन्हीं भेदों को कितना गौण करना पड़ता है? कि अदृश्य हो जाये उतना गौण करना पड़ता है। तिरोधान करना माने ढक देना। कितनी हद तक ढक देना? कि अदृश्य हो जाय उतनी हद तक ढक देना। अतः भिन्न-भिन्न शब्द लिये हैं। 'तिरोधान कर दे, अदृश्य कर दे, ढक दे-ऐसा कहा जाता है।' क्योंकि उसका लक्ष्य नहीं करना है, उसका अवलम्बन नहीं लेना है।

सब विषय में ऐसा ही है। कोई भी अपरिचित व्यक्ति के परिचय में जाते वक्त, उस व्यक्ति की

कितनी-कितनी विशिष्टताएँ हैं उसका ख्याल करने में आता है। उसके रंग-रूप से लेकर उसके प्रकृति स्वभाव का सब का परिचय करने में आता है। परिचय करते समय उन सब भेदों का विचार चलता है। परिचित होने के बाद उसके ज्ञानार्थ उसका नाम लेना पर्याप्त है। उसके ज्ञान हेतु उसका नाम आते ही उसका ज्ञान हो जाता है। उसके कोई भेद के विचार में उसकी विशिष्टताएँ, उस व्यक्ति की विशिष्टताएँ कितनी-कितनी हैं उसके भेद के विचार में जाने का कोई प्रोसेस हुए बिना, ज्ञान में प्रोसेस हुए बिना नाम लेते ही उसका जो पूरा ज्ञान होता है उसे अभेद ज्ञान कहने में आता है। ऐसा ही गुण-पर्याय के भेदों से आत्मा का परिचय करवाया तब एक आत्मा नाम का शब्द सुनते ही पूर्ण आत्मा ज्ञान में खड़ा होना चाहिये।

गुरुदेवश्री की जो गंभीर शैली थी उसमें यह एक प्रकार था। प्रवचन शुरू करे तब यहाँ से बहुभाग शुरू करते थे कि, यह आत्मा है... वहाँ से शुरू करे। यह एक शब्द तो इतना ही है कि, यह आत्मा है... यह आत्मा है, उसमें पूरा आत्मा उसके ज्ञान में खड़ा हो जाता है। वक्ता के ज्ञान में पूर्ण अभेद आत्मा खड़ा होता है, तो श्रोता के ज्ञान में भी ऐसा होना चाहिये। तो वक्ता-श्रोता की संधि मिलती है। अन्यथा वक्ता कहता है कुछ और श्रोता सुनता है कुछ दूसरा। उसमें ऐसा हो जाता है। परन्तु टेप अभी बहुत बाकी बच गयी है। प्रवचन शुरू होता हो तब कैसे होता है यह देख लेना। यहाँ से प्रारंभ करते थे। मैंने तो सैंकड़ों बार यह बात मार्क की है—ख्याल में ली हुई बात है कि कैसे प्रारंभ करते हैं। क्या आता है ज्ञान में।

प्रथम ही निजपद को ज्ञान में स्थापन करते हैं। ज्ञान में उपयोगपूर्वक निजपद का स्थापन करने के बाद उसके विषय का कथन, उसके गुणों का, उसकी पर्यायों का, पर्याय में विकार एवं अविकार

का, विकार के निमित्तों का जितना भी कथन चले, उन सब में, यह आत्मा ऐसा है, यह बात रखकर चलती है। और वह रखकर चलती है उसके भी बहुत संकेत भाषा में विभिन्न प्रकार से आये हैं। वह तो, उस लक्ष्य से चर्चा करे तब ख्यालमें आये कि यह कितनी खूबीयाँ हैं।

... जो कुछ करना पड़े वह करने की तेरी तैयारी होना चाहिये। यह तो तुझे करना नहीं है इसलिये ऐसा कहते हैं कि तो पहले भेद क्यों किये? भाई! पहले भेद करना आवश्यक था। समझाने के समय भेद करना आवश्यक था। परन्तु वह भेद करते समय साथ-साथ यह समझाया था कि इस भेद को अभेद में अंतर्लीन करना है। और अभेद भेद अंतर्लीन है इसलिये अंतर्लीन करना है। नहीं है और अंतर्लीन करना है ऐसा भी सवाल नहीं है। यह सीधी बात है।

क्या कहते हैं? 'वस्तु जो द्रव्य है,...' वह अभेद द्रव्य। वस्तु जो अभेद द्रव्य है, 'चेतन ऐसा द्रव्य और चैतन्य उसके गुण - ऐसे भेदको ढककर एक अभेदको लक्ष्यमें ले।' चैतन्य के भेद को भी अंतर्लीन कर दे। मूल गाथा में यह शब्द पड़ा है। आचार्य महाराज ने टीका की है तब उसे अंतर्लीन करना, पर्याय को गुण में समाकर, ज्ञान में, हाँ! पर्याय के ज्ञान को गुण के ज्ञान में संक्षेप करके, अंतर्लीन करके, ऐसा भाषाप्रयोग किया है। एक अभेद द्रव्य का ज्ञान करना, अवलम्बन करना, एक अभेद को लक्ष्य में लेना।

यह सोने का तो सब को परिचय है न? सोना एक ऐसी चीज है कि सब समझते हैं। भले ही परख न हो तो भी। सोना माने लोहा नहीं। और सोना माने तांबा, पीतल और एल्युमिनियम नहीं। कोई धातु नहीं। पीतल भले ही सोना जैसा दिखता हो तो भी कहाँ सोना और कहाँ पीतल!

सोना और पीतल के बीच क्रीमत की दृष्टि से बहुत अंतर गिनने में आता है। अब, सोना कहते ही उसका अभेद ज्ञान होता है। या उसके भेद में जाना पड़ता है? कुछ नहीं। नाम पर्याप्त है। परिचित चीज में नाम पर्याप्त है। इसप्रकार जो परिचय करना है उसमें भेद विलिन हो जाते हैं, भेद अंतर्लीन हो जाये इतनी हद तक स्व वस्तु का, निज वस्तु का परिचय करने में आये तो उसे अभेद का लक्ष्य रहता है। भेदों का ज्ञान हो तो भी अभेद का लक्ष्य छूटता नहीं। इतनी हद तक अभेद को अभेदपने लक्ष्य में लेना चाहिये, अनुभव में लेना चाहिये, वेदन में लेना चाहिये। उस अभेद का रस हो तो यह परिणाम आता है। भेदरस में रुकने से भेद के रसवाले को यह परिणाम नहीं आता। इसलिये भेद छुड़ाया है उतना ही नहीं, अनादि से जो भेद का रस है उसे भी छुड़ाया है। क्योंकि पकड़ तो रस से आती है, पकड़ है वह तो रस के कारण है।

मुमुक्षु :— ...

पूज्य भाईश्री :— हाँ, है अभेद की बात। बराबर है। भेद-अभेद ऐसा स्पष्ट नहीं लिखा है।

मुमुक्षु :— ...

पूज्य भाईश्री :— उतना है। 'मैं त्रिकाली सहज ज्ञानस्वभावी ध्रुव पदार्थ हूँ व प्रतिक्षण ज्ञानरूप परिणाम मेरा सहज स्वभाव है। जड़ाश्रित परिणाम जड़ के हैं। पूज्य गुरुदेव के इस सिद्धान्त की घूटीने क्षणिक परिणाम की ओर के वलण के रस को फ़ीका कर दिया है।' इतनी बात है। भेद शब्द नहीं इस्तमाल किया है। परन्तु परिणाम की ओर के वलण का जो रस होता है, वलण यानी आश्रय। परिणाम आश्रित परिणाम होते हैं और उस परिणाम का रस है इसलिये परिणाम आश्रित परिणाम होते हैं। ऐसे रस को गुरुदेव के ऊपर के सिद्धान्त ने फ़ीका

कर दिया है। 'व सहज स्व के सिवाय कोई कार्य में रस नहीं आता है।' एक सहज स्व है, जो अनन्त गुण का निधान है, उसका एक अभेद रस है, यह रस अविनाशी रस है। इस अविनाशी रस की धारा पदार्थ में चूआ करती है। अनुभवप्रकाश में ऐसी भाषा ली है। 'अभेद अविनाशी रस की धारा चूआ करती है।' उसका प्रवाह चालू रहता है। यह ज्ञानधारा है, ज्ञाताधारा कहते हैं। बहिनश्री अपनी भाषा में उसे ज्ञाताधारा कहते हैं।

'अतः जवाबादि पहुँचने में विलंब आदि के होने में मेरी ओर का खयाल न करना।' अतः आप को पत्र का जवाब कदाचित् मिले, ना मिले, विलंब हो तो मेरा विकल्प मत करना। हम लोग नहीं कहते हैं? कि भाई! मुझे जरूर काम से जाना है। कदाचित् आप के प्रसंग में पहुँच ना पाऊँ तो क्षमा करना, माफ करना। इस तरह कहते हैं कि आप के साथ यह पत्रव्यवहार है। जवाब देर से मिले, कदाचित् न मिले तो क्षमा करना। मेरा उस ओर बहुत ध्यान नहीं है। अथवा उस प्रसंग को लंबाने का अभिप्राय नहीं होने से लिखा जाये तो लिखा जाये, अन्यथा कुछ नहीं, इसप्रकार लिखना ना भी हो। ऐसा बनने का संभव है। वहाँ रस की बात ली है। परिणाम का रस। परिणाम ओर के वलणवाला रस उसे गुरुदेव के सिद्धान्त ने फ़ीका कर दिया है। ठीक! मेरे परिणाम में मैंने वीतरागता प्रगटकर उस रस को तोड़ा है ऐसा नहीं। गुरुदेव के सिद्धान्त ने ऐसा किया है। ठीक! उनकी घरेलु मारवाड़ी भाषा में लिखते हैं। गुरुदेव के इस सिद्धान्त की घूटीने। घूटीए, घूटीने। हिन्दी में 'ने' बोलते हैं। हम 'ए' करते हैं, घूटीए। वे घूटीने कहते हैं। जो घूँटन करने लायक सिद्धान्त है वह, घोंट घोंटकर इतना घूँटा है है कि दूसरा रस खत्म हो गया है। ऐसा लेते हैं।

मुमुक्षु :— घूँटवुं, उसका मारवाड़ी में दूसरा अर्थ भी होता है।

पूज्य भाईश्री :— क्या होता है?

मुमुक्षु :— बालक जन्म लेता है तब दादा या.... पहली दवाई दे, उसके मुँह में रखने में आती है... उसके दादाजी द्वारा यह घूँटी दी गयी है इसलिये उनके स्वभाव और प्रकृति पर जायेगा।

पूज्य भाईश्री :— माने जो पहले दवाई दे, उसके बाद...

मुमुक्षु :— आजीवन उस पर...

पूज्य भाईश्री :— आहार की दूसरी विकृति न हो। शरीर में दवाई दे दे, बाद में दूसरा जो कोई आहार इत्यादि देंगे उसकी कोई विकृति नहीं आयेगी।

मुमुक्षु :— ... इसप्रकार गुरुदेव की असर..

पूज्य भाईश्री :— ठीक। उपमा अच्छी दी है। बुजुर्ग होते हैं न? बुजुर्ग-दादाजी छोड़ गये हों। एक औषधि छोड़कर जाये कि यह, बालक को पहले दे देना।

मुमुक्षु :— गळथूथी।

पूज्य भाईश्री :— जन्मघूँटी औषधि के रूप में नहीं होती। जन्मघूँटी तो कोई भी चीज हम देते हैं। यह, सिद्धांत की जन्मघूँटी मिली है ऐसा कहते हैं। ठीक! बालक को तो मालूम नहीं पड़ता कि जन्मघूँटी में क्या दिया है। यह जन्मघूँटी ऐसी है कि सादिअनंत चलती है। फिर उसमें दूसरी कोई गड़बड़ी नहीं होती।

मुमुक्षु :— भव का अंत हो ही।

पूज्य भाईश्री :— उसका अंत हो और उसमें कोई दूसरी अनेक प्रकार के उदयभावों की परिणाम में क्रिया हो, परिणामक्रियाएँ (हो) तो भी यह जन्मघूँटी ऐसी प्राप्त हो गयी है कि वह सब (उदयभाव) निष्फल हो जाये। घूँटीमें से ऐसा अर्थ भासित होता था। घूँट-घूँटकर कोन्सन्ट्रेट करके बनायी

हुई चीज। वह इतनी कोन्सन्ट्रेट की है, इतनी तीव्र की है कि बस! वह पहले ही ले ली है। घूँट-घूँटकर स्वरूपरस ऐसा घूँट गया है कि अब, परिणाम का जो भेद है उसका मुझे रस नहीं आता है। परिणाम का ज्ञान होता है परन्तु उसका रस नहीं आता है कि यह मुझे आनन्द आ गया, मुझे ज्ञान बढ़ गया, मुझे स्वसंवेदन बढ़ गया, मुझे फलाना हुआ, ऐसा कोई रस नहीं आता है। अविकार का रस नहीं आता है तो विकार का रस आने का तो सवाल ही नहीं है। ऐसा है।

‘यह तो तीन लोकके नाथकी दिव्यवाणी है।’ यह जो परमागम का रहस्यभूत... प्रवचनसार चलता है न? परमागम का रहस्यभूत बारह अंग के साररूप जो वाणी है वह, भगवान की दिव्यध्वनि के साररूप है, ऐसा कहते हैं। अनेक बार स्वयं ने कहा है कि यहाँ जो कहने में आता है, दिव्यध्वनि में भले ही कितना भी विस्तार आया है, परन्तु उसका सार यहाँ कहने में आता है। जो मूल सार की बात है वह अनुभवसिद्धपने प्रसिद्ध करने में आता है। बारह अंग का सार क्या है? कि शुद्धात्मा का निर्विकल्प अनुभव। शुद्धोपयोग हो, यह बारह अंग का सार है। यह शुद्धोपयोग कैसे हो? उसकी रीति को—विधि को कहने में आता है, इसलिये बारह अंग का यह कहकर कहते हैं, ऐसा कहते हैं।

‘यह तो तीन लोकके नाथकी दिव्यवाणी है।’ भगवान ऐसा कहते थे। समवसरण में महाविदेहक्षेत्र में स्वयं की उपस्थिति थी तब भगवान ऐसा कहते थे, ऐसा कहते हैं। हमने उसके जो संस्कार वहाँ ग्रहण किये हैं, वह यहाँ अनुभवपने प्रसिद्ध करने में आता है। वहाँ ‘फत्तेहमंदकुमार’ ऐसा उनका नाम था। ‘फत्तेहमंदकुमार’। और अध्यात्म का बहुत रस था। वहाँ भगवान की वाणी में अनेकविध विषय आये, उसमें अध्यात्म का विषय मुख्यरूप से आता है। दूसरी दुनियाभर की बातें

उसमें आ जाती है। जिसमें से यह बारह अंग की रचना होती है। ग्यारह अंग और चौदह पूर्व की जो रचना होती है, वह तो वाणी के अनंतवें भाग में है।

केवलज्ञान में लोकालोक का जो तीन काल का ज्ञान है उसके अनंतवें भाग में वाणी में प्रसिद्ध होता है, उसके अनंतवें भाग में ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के अन्दर संकलन होता है। वाणी में अक्षरात्मकरूप से रचना होती है वह, उसके अनंतवें भाग में है। वर्तमान में तो उसमें से बहुत अल्प बचा है। एक हजारवें भागमें। उसका सब सहस्रांश है। लेकिन फिर भी सार बच गया है। मूल जो बारह अंग का सार है वह बच गया है। वहाँ अध्यात्म का बहुत रस था, भाई! सुनने जाते थे लेकिन अध्यात्म विषय का बहुत रस था। इसलिये यहाँ मुख्य विषय अध्यात्म का चला है।

जब बहिनश्री का वचनामृत ग्रंथ प्रसिद्ध हुआ तब वे बोले थे कि यह दिव्यध्वनि है। क्योंकि वहाँ उन्होंने भी सुना है न! फिर यहाँ अनुभवसिद्ध किया। यहाँ आकर जो सुना था, जो संस्कार लेकर आये थे, जो अध्यात्मतत्त्व का रस लिया था वहाँ, वह यहाँ अनुभवसिद्ध किया। अतः वह सब अंतर से आया, धारा फूटी। इसलिये ऐसा कहते हैं कि यह दिव्यध्वनि है। भगवान की दिव्यध्वनि का जो विषय है वही, इस वाणी का विषय होने से उसे दिव्यध्वनि कहने में आता है।

‘यह तो तीन लोकके नाथकी दिव्यवाणी है। अनन्तकालमें जो नहीं किया...’ इस जीव ने चार गति में परिभ्रमण करते हुए, अनेक धर्मस्थान में जाकर और धर्म की मानी हुई प्रवृत्ति करने पर भी, पूर्व में **‘अनन्तकालमें जो नहीं किया उसे करनेके लिए यह है।’** किसप्रकार यह कार्य होता है? यह विधि, यह रीति यहाँ इस गाथा में दर्शायी गयी है। जब, मन द्वारा, विकल्प द्वारा समझन करने का प्रसंग है, तब भगवान अरिहंत

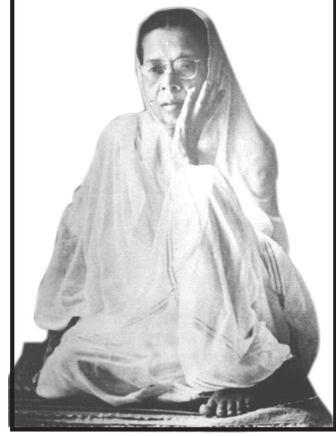
परमात्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को तू पहिचान। ऐसे ही द्रव्य-गुण-पर्याय इस आत्मा के है, इसप्रकार तू वहाँ-से लक्ष्य बदलकर अपने पर बात को लक्ष्य में ले। मिलान करने पर, स्वयं के साथ मिलान करने पर उपयोग की दिशा पलटती है। मिलान तो स्वयं से करना है न? अतः वहाँ भले ही अरिहंत का परद्रव्य दृष्टान्त के रूप में लिया, फिर भी मिलान तो स्वद्रव्य के साथ करना है। अतः स्वयं के साथ मिलान करने पर वहाँ उपयोग की दिशा पर तरफ की है, वह पलटकर स्व तरफ की दिशा करवानी है। ऐसी जो अंतर्मुख होने की विधि है, रीति है उसे, अनन्तकाल में इस जीव ने उस रीति को और विधि को ग्रहण नहीं की है।

देखिये! आत्मा का स्वरूप सुनने का प्रसंग नहीं बना ऐसा नहीं कहा। तुझे तीर्थकर मिले, समवसरण मिला और आत्मा का स्वरूप तुने श्रवण किया, तुझे ज्ञानी मिले और आत्मा का स्वरूप तुने सुना, बाकी क्या रहा? स्वरूप ग्रहण करने की जो विधि है, रीति है, यह अनन्त काल में नहीं किया है। सुना तो है, सुनने तक का कार्य किया है।

मुमुक्षु :— अनन्त बार मुनि हुआ।

पूज्य भाईश्री :— मुनि बन गया। बाहर में बाह्य पदार्थाश्रित अनेक प्रकार के विधिविध प्रकार के विभावभावों को छोड़ने हेतु त्याग करने में वह दिगंबर मुनि बन गया, इतना त्याग किया। त्याग में यहाँ तक आगे बढ़ गया। लेकिन अन्दर में राग का त्याग सम्यक् प्रकार से न हो, रागरहित ऐसे तत्त्व के अवलंबन से और आधार से जब तक राग का अथवा अध्यास का त्याग न हो अथवा जब तक यथार्थ विधि का ग्रहण न हो, तब तक कुछ काम नहीं आता। सब निष्फल जाता है। यह, इस गाथा में विधि का मुख्य विषय है। १३४ (वचनामृत) समाप्त हुआ।

पूज्य बहिनश्री की वीडियो तत्वचर्चा
मंगल वाणी-सी.डी.५ A



मुमुक्षु :- ज्ञान का जो जानने का प्रकार है उसका निषेध करने में आये तो उसमें लाभ क्या होता है या नुकसान क्या होता है ?

समाधान :- जो दृष्टि का विषय है वह सबको गौण करता है। एक पारिणामिकभाव को ही ग्रहण करता है, दृष्टि के विषयमें। एक को, मुख्य एक को ग्रहण करता है, बाकी सब गौण करता है। और ज्ञान है वह स्वयं अखण्ड को ग्रहण

करता है और जो भेद है उसको भी ग्रहण करता है। अब, यदि उसका निषेध-ज्ञान का निषेध ही करे, मात्र दृष्टि को रखे तो दृष्टि हो नहीं सकती। दृष्टि के साथ ज्ञान हो तो ही दृष्टि सम्यक् होती है। दृष्टि के साथ ज्ञान हो तो ही साधना हो सकती है। दृष्टि की मुख्यतासे साधना होती है, लेकिन यदि ज्ञान नहीं रखे और अकेली दृष्टि (रखे, तो) अकेली दृष्टि हो नहीं सकती। अकेली दृष्टि हो तो दृष्टि सम्यक् होती ही नहीं। दृष्टि मिथ्या होती है। उसको नुकसान वह होता है।

लाभ यह होता है कि दृष्टि सम्यक् हो उसके साथ ज्ञान सम्यक् हो तो उसकी साधना भी सम्यक् प्रकारसे यथार्थ होती है। ज्ञान का बिलकुल निषेध करे तो दृष्टि की सम्यक्ता रह सकती नहीं। दृष्टि के साथ ज्ञान होता है, ज्ञान के साथ दृष्टि होती है। दोनों साथ में हो तो ही दोनों सम्यक् होते हैं। अकेली दृष्टि हो तो एकांत (हो जाता है)। मुख्य एक द्रव्य ही है और पर्याय कुछ है ही नहीं, दृष्टि अपेक्षासे आत्मा पूर्ण है। आत्मा में कोई विभाव नहीं है, आत्मा में कोई भेद नहीं है। दृष्टि तो एक अपना अस्तित्व है उसको ही ग्रहण करती है। बाकी जो भी अन्दर अनेक जात के प्रकार (हैं), अनेकान्तमय अनन्त धर्मोंसे, अनन्त गुणोंसे भरा है, वह कोई भी भेद दृष्टि में आते नहीं। दृष्टि तो एक को ही ग्रहण करती है। एक मुख्य (करे) और अन्य सब का निषेध करे तो ऐसा वस्तु का स्वरूप हो नहीं सकता। वस्तु का स्वरूप यथार्थ रूपसे साध नहीं सकते। तो दृष्टि भी सम्यक् नहीं है। उसका निषेध करे तो दृष्टि भी असत्य है।

ज्ञान सम्यक् कब कहलाता है? कि ज्ञान अभेद को ही ग्रहण करे। दृष्टि का विषय है वैसा ही ज्ञान ग्रहण करे और ज्ञान पर्याय को भी ग्रहण करे, ज्ञान द्रव्य को भी ग्रहण करे, ज्ञान अपूर्ण-पूर्ण पर्याय को भी ग्रहण करे और ज्ञान, शाश्वत द्रव्य है उसमें कोई विभाव नहीं है, आत्मा में कोई भेद नहीं है, सब ज्ञान ग्रहण करता है। इसलिये ज्ञान दोनों पहलूओं को ग्रहण करे तो ज्ञान सम्यक् है और दृष्टि, उसके साथ रही दृष्टि भी सम्यक् है। अकेली दृष्टि रखे और ज्ञान को निकाल दे तो दृष्टि सम्यक् नहीं है। गलत होता है, एकान्त होता है। दोनों पहलू यदि ज्ञान के साथ नहीं हो तो दृष्टि असत्य होती है, नुकसान है, साधना होती नहीं। मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता। मुक्ति की पर्याय प्रगट नहीं होती, कुछ होता नहीं। उसकी साधना यथार्थ नहीं होती। ऐसे ही किया करे कि आत्मा तो एक पारिणामिभाव है, आत्मा तो शाश्वत है, आत्मा में कुछ नहीं है। ये विभाव जड़ के हैं, आत्मा तो ज्ञायक है। आत्मा एक जाननेवाला है, उसमें कुछ नहीं है, कुछ नहीं है। ऐसा किया करे लेकिन साधन अन्दर भेद करके भिन्न हो तब यथार्थ होता है। भिन्न हुए बिना आश्रय कैसे हो? अन्दर भिन्न पड़े तो आत्मा का आश्रय आये तो उसमें पर्याय की शुद्धि होती है। भिन्न हुए बिना ऐसे ही (कहता) रहे तो गलत है।

मुमुक्षु :- भिन्न होने में ज्ञान विशेष है, परिणामन में ?

समाधान :- दृष्टि मुख्य और ज्ञान भी साथ में है, दोनों साथ में है। दोनों की अपेक्षासे दोनों होने चाहिये। दोनों साथ हो तो होता है, ज्ञान मुख्य और दृष्टि मुख्य, दोनों साथ में होते हैं। वस्तु स्वरूप जानने में पहले ज्ञान होता है। ज्ञान यथार्थ जाने। दृष्टि प्रगट होती है तब साधना में दृष्टि मुख्यरूपसे काम करती है, लेकिन वह दृष्टि कैसी? ज्ञान सहित की दृष्टि। वह दृष्टि ऐसी होती है। ज्ञान सहित की दृष्टि। ज्ञान बिना की अकेली दृष्टि वह दृष्टि यथार्थ नहीं है, असत्य है।

मुमुक्षु :- यानी कि निर्विकल्प दशा हो या सविकल्प दशा हो, दोनों वक्त ऐसी ही परिस्थिति होती है ?

समाधान :- निर्विकल्प दशा में दृष्टि मुख्य रहती है और ज्ञान सब जानता है। ज्ञान स्वयं जो अभेद एक वस्तु है उसे भी जानता है और पर्याय के वेदन को भी ज्ञान जानता है। दोनों (भाव) निर्विकल्प दशा में ज्ञान जानता है और दृष्टि एक अभेद को ग्रहण करती है। निर्विकल्पपने दृष्टि इसप्रकार परिणमती है। ज्ञान भी सहज बिना विकल्प किये परिणमता है। पर्याय का वेदन है और द्रव्य जैसा है वैसा सब ज्ञान में सहज जानने में आता है, बिना विकल्प किये। और बाहर आये तो भी उसकी साधना में दृष्टि एक द्रव्य को मुख्य रखती है, एक शाश्वत द्रव्य, जिसमें कोई पर्याय का भेद नहीं है, कोई साधना की पर्याय का भेद नहीं है, कोई भेद नहीं है। ऐसे दृष्टि एक द्रव्य का आश्रय करती है। और उसके साथ ज्ञान सब विवेक करता है कि मैं भिन्न हूँ, यह विभाव मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा स्वरूप यह है। निश्चयसे एक द्रव्य शाश्वत है उसे जानता है, भेदज्ञान करे उसे जानता है, सब ज्ञान जानता है। ज्ञान, दृष्टि उसके साथ परिणति ऐसी रहती है। भेदज्ञान की आंशिक परिणति सम्यग्दर्शन में अलग रहती है। उतना स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होता है। अनन्तानुबंधी कषाय टलता है। जो मात्र दृष्टि, दृष्टि ऐसा कहता रहता है, ज्ञान का एकदम निषेध करता है तो दृष्टि असत्य है, यथार्थ नहीं है।

मुमुक्षु :- माताजी! निर्विकल्पता के समय पुरुषार्थगुण की प्रधानतासे पूर्णरूपसे जाने या अल्पतारूप जाने? समाधान :- जैसा है वैसा जाने। जैसा द्रव्य-वस्तुस्थिति (है), उसमें कोई विभाव नहीं है, उसमें अन्य कुछ नहीं, वस्तुस्थिति ऐसी है। और निर्विकल्प दशा आंशिकरूपसे प्रगट (हुई है)। जैसा है वैसा जानता है, उसमें विकल्प नहीं है। निर्विकल्परूपसे अल्प को अल्प जानता है, द्रव्य अपेक्षासे पूर्ण है ऐसे जानता है। पूर्ण माने? द्रव्य में कोई विभाव नहीं है। द्रव्य एक शुद्ध है, ऐसा जानता है। पूर्ण अर्थात् पर्याय में पूर्ण नहीं है। जैसा है वैसा जानता है। जैसा है वैसा उसे वेदन है। थोड़ा-सा भी ज्ञान में गलत नहीं होता। (यदि है) तो ज्ञान सम्यक् नहीं है। जैसा है वैसा ज्ञान बराबर जानता है। जितना है उतना जानता है। जिस भूमिका में है वैसा जानता है। ज्ञान एक विवेक करनेवाला तुलनात्मक है। जैसे तराजू में हीरे को तोलते हैं, वह ज्ञान तो स्थूल है, ज्ञान बराबर जैसा है वैसा जाननेवाला है।

मुमुक्षु :- तराजू के काँटे की भाँति।

समाधान :- हाँ, उसमें भूल हो तो सब में भूल है। आश्रय द्रव्य का दृष्टि में है। निर्णय जो किया विचार करके, दृष्टिने द्रव्य का आश्रय लिया वह आश्रय वैसे ही रहता है। आश्रय किसका लिया है और वस्तु कैसी है और किस स्वरूप में है, सबको ज्ञान जानता है। वस्तु पूर्णरूपसे कैसी है, अल्पता कितनी है और कैसे पूर्ण हुआ जाता है और पूर्ण की स्थिति कैसी होती है, अल्पता की क्या होती है, उन सबको साधकदशा में जानता है।

मुमुक्षु :- माताजी! आप दृष्टि कहते हो लेकिन दृष्टि का रूप समझ में नहीं आता है। ज्ञान तो बराबर है, ख्याल में आता है, आप ज्ञान के सब पहलूओंसे बात करते हो, लेकिन दृष्टि इसप्रकार एक को स्वीकार करती है, मात्र अस्तित्व को ग्रहण (करती है), लेकिन दृष्टि क्या, यही बराबर ख्याल में नहीं आता।

समाधान :- एक ध्येय रखा है, द्रव्य का आश्रय लिया है। दृष्टांत में क्या होता है कि कोई आदमी कार्य करता हो और ध्येय एक हो कि मेरा यह ध्येय है। यह गाँव लक्ष्य में लिया है। उसमें तो गाँव भिन्न और बाकी सब भिन्न है। उसे ध्येय तो एक ही है कि यह वस्तु है, द्रव्य यह है, इस द्रव्य को स्वयं उसकी दृष्टि में लेकर उसका दृष्टिबिंदु बराबर द्रव्य पर है। हाथ में उसे लिया है और कार्य, द्रव्य में जो अशुद्धि पर्याय अपेक्षासे है वह पूरी करनी है। ज्ञान में है। कार्य करनेवाले मनुष्य का ध्येय, कार्य का हेतु क्या है, उसकी दृष्टिने द्रव्य पर बराबर आश्रय लिया है। लेकिन वह दृष्टिबिंदु तो बाहर का है।

यहाँ तो एक वस्तु को हाथ में ली है कि यह वस्तु मूल स्वभावसे तो पूर्ण है लेकिन उसे साधनी है, पर्याय में न्यूनता है। पानी का स्वभाव शीतल है, लेकिन उसकी शीतलता कैसे प्रगट करनी वह कार्य ज्ञान में लिया है और उस कार्य को ज्ञान में लेकर फिर क्रिया में, परिणति में उसप्रकारसे करता है। ज्ञान जानता है, परिणति पुरुषार्थ उसप्रकार स्वयं की ओर मोड़ता है। और प्रयोगसे पानी शीतल है, कीचड़से मलिन हुआ है और स्वच्छ करना है, लेकिन स्वभावसे निर्मल है। पानी पर दृष्टि (है)। वैसे यह वस्तु, वहाँ तो पानी एक अलग हुआ, यह तो एक वस्तु है, उस वस्तु को जान ली, वस्तु को हाथ में ली है। दृष्टि में यानी उसके दृष्टिबिंदु में ग्रहण कर ली है कि यही वस्तु है। स्वयं ही है, स्वयं कोई अलग नहीं है।

उसे यदि वह दृष्टि में आया नहीं हो, उतना निश्चय-नक्की है कि यही द्रव्य है और यही वस्तु है, इस वस्तु को ग्रहणकर खुद ज्ञानमें जानकर आगे कार्य करता है। उसकी पूर्णता, अल्पता और शुद्धता, सबकी ज्ञान में तुलना करके सब जानता है। उसप्रकारसे उसका कार्य होता है। दृष्टि यानी एक ध्येय को ग्रहण किया है। आत्मा को हाथ में लिया है।

स्फटिक हो, कोई वस्तु हो उसकी निर्मलता कैसे हो? कोई वस्तु मलिन हुई हो वह निर्मल (कैसे हो)? कपड़ा मलिन है, उसे धोना पड़े। कपड़ा स्वभावसे निर्मल है। वैसे स्वयं ही है, ये सब तो बाहर के दृष्टांत है।

मुमुक्षु :- इसप्रकारसे द्रव्य को अथवा ध्रौव्य भाव को..

समाधान :- स्वयंने ग्रहण किया है। जिस पर दृष्टि को स्थापित की है कि यह वस्तु है। उसका स्वभाव तो पूर्णतः शीतल और पूर्णतः ज्ञानसे भरपूर, आनंदसे भरपूर पूर्ण है। उसमें उसके मूल में कुछ अशुद्धता या उसके मूल में कोई उष्णता कि आकुलता नहीं है। मूल उसका अंतःतत्त्व तो शुद्ध है। लेकिन उसे प्रगट शुद्धता करने हेतु किस अपेक्षासे अशुद्धता है, यह सब ज्ञान जानता है। ज्ञान शुद्धता को जानता है, ज्ञान अशुद्धता को जानता है, दोनों को जानता है। इसप्रकार कार्य स्वयं पुरुषार्थसे स्वयं की ओर झुकता है, भेदज्ञान करके। भेदज्ञान द्वारा विभावसे न्यारा होता है। मैं उससे भिन्न हूँ। उससे न्यारा होता है, अमुक प्रकारसे। फिर विशेष होता जाता है। गृहस्थाश्रम में अमुक प्रकारसे न्यारा होता है। दृष्टि अपेक्षासे न्यारा है कि मैं तो यही हूँ, यह नहीं। जितना अपना आलम्बन आया उतना न्यारा हो गया है।

मुमुक्षु :- जिस ज्ञान में अशुद्धता ख्याल में आयी कि यह अशुद्धता है। मेरा पूर्ण स्वरूप ऐसा है। इसप्रकार जिस ज्ञान में अशुद्धता में जानने में आयी उसे फिर अशुद्धता रहे कैसे?

समाधान :- जानने के साथ ही जाना इसलिये कार्य हो नहीं जाता। यह अशुद्धता है, यह शुद्धता है। मेरा स्वभाव शुद्ध है, पर्याय में अशुद्धता है। ऐसा जाना, तो जानने के साथ ही कार्य नहीं होता। कार्य अभी (बाकी है)। वह जाना, अमुक प्रकारसे भिन्न होता है। उसने जाना वह यथार्थ जाना है। दृष्टि स्वयं आत्मा का आश्रय लेकर यह आत्मा है, यह विभाव है, उस आत्मा का आश्रय लेकर बराबर जाना है। इसलिये अमुक प्रकारसे न्यारा होता है। ऐसे जानने के साथ अमुक कार्य हो जाता है, लेकिन विशेष कार्य करने में देर लगती है। जानने के साथ ही तुरंत अन्दर में स्थिर हो जाये ऐसा बनता है। उसे लीनता होने में देर लगती है। इसलिये (अमुक प्रकार) गृहस्थाश्रम में होता है। फिर उसे विशेष पुरुषार्थ होता है। अंतरमेंसे सब त्याग हो गया कि यह सब मेरा स्वभाव नहीं है। यह सब कब छूटे? भावना ऐसी है लेकिन पुरुषार्थ इतना चलता नहीं है। जानने के साथ ही तुरंत नहीं हो जाता। चारित्र की दशा अंतर की (बाकी रहती है)। फिर बाहर आते हैं, अंतर और बाहर में उसप्रकारके शुभभाव उसके साथ होते हैं, इसलिये उस सम्बन्धित त्याग होता है। फिर लीनता बढ़ते.. बढ़ते.. बढ़ते.. चारित्र दशा अंतर में होती है इसलिये बढ़ जाता है। मात्र ज्ञानमात्रसे कहने में आता है वह ज्ञान किसप्रकार का? कि, वह ज्ञान लीनतापूर्वक का ज्ञान होता है। लीनतापूर्वक का ज्ञान हो तो ज्ञानमात्रसे हो जाता है, मोक्ष हो जाता है। भेदज्ञानसे सिद्ध होता है। लेकिन वह ज्ञान भेदज्ञान की उग्रता (होती है तब होता है)। उस उग्रता में चारित्र अन्दर साथ में आ जाता है। और यह जाननेमात्रसे लीनता नहीं हो जाती।

मुमुक्षु :- जिस ज्ञान में अशुद्धता अशुद्धतारूपसे जानने में आयी और राग ... यह मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा भी ज्ञानने नक्की किया, तो भी अशुद्धता .. उतना चारित्र तो हुआ है।

समाधान :- थोड़ा तो हुआ है।

मुमुक्षु :- तो फिरसे वैसे राग में क्यों फँसता है?

समाधान :- उसके पुरुषार्थ की मन्दता है। उसे ऐसा होता है कि इस क्षण यह यदि छूट जाये तो मुझे कुछ नहीं चाहिये। लेकिन उतना पुरुषार्थ उससे हो नहीं पाता। एकदम जोरदार वैसी पुरुषार्थ की उग्रता होती नहीं। श्रद्धा हुई, ज्ञान हुआ, जाना, अमुक प्रकारसे न्यारा हुआ, स्वानुभूति हुई, बाहर आया, भेदज्ञान की धारा वर्तती है, भिन्न हूँ, भिन्न हूँ ऐसी परिणति सहज चलती है। प्रत्येक कार्य में जुड़े तो भी स्वयं ज्ञाता रहता है-जाननेवाला रहता है। अंतरसे एक नहीं हो जाता। ऐसा जोरदार चलता है, फिर भी जितना चाहिये उतना पुरुषार्थ चलता नहीं, हो नहीं पाता। अमुक प्रकार का जो राग है, जो विभाव है वह उसकी पुरुषार्थ की मन्दता के कारण एकदम छूट नहीं सकते। उसमें जुड़ने जैसा नहीं है ऐसा मानता है, तो भी पुरुषार्थ की मन्दता के कारण जुड़ जाता है। किसीको एक क्षण में अंतर्मुहूर्त में हो जाता है, शिवभूति मुनि को, वह अलग बात है। बाकी प्रत्येक को नहीं होता। पुरुषार्थ की मन्दता रहती है। इसलिये क्रमसे होता है।

मुनिदशा आये, छठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हो तो भी किसीको तुरंत केवलज्ञान होता है, किसीको कुछ समय बाद होता है। गृहस्थाश्रम छूट गया, मुनिदशा आयी, छठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं तो भी कोई तुरंत श्रेणी लगाता है, किसीको देर लगती है। पुरुषार्थ का कारण है, दूसरा कोई कारण नहीं है। उसमें कर्म का तो निमित्तमात्र है, स्वयं के पुरुषार्थ की मन्दता है। अन्दर खेद रहता है, समझता है कि मेरे पुरुषार्थ की मन्दता है।



द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से दृष्टि का परिणामन और द्रष्टि का विषय सम्बन्धित पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के चयन किये गये वचनामृत

‘मैं’ तो कभी भी नहीं हिलनेवाला खूँटा हूँ। परिणाम आते हैं और जाते हैं, मगर ‘मैं’ तो खूँटे की तरह अचलित ही रहता हूँ। ४०.

‘मैं’ तो अडिग हूँ; किसीसे डिगनेवाला नहीं हूँ। जैसे इस देहाकार में स्थित आकाश अडिग है, हिलता-चलता नहीं; वैसे ही ‘मैं’ भी अडिग हूँ। ५०.

चैतन्य-गठरी ‘मैं’ ही हूँ - ऐसी पकड़ हो जानेसे मति-श्रुतज्ञान अंतर में ढल जाता है; इसलिए अंतर में ढलने के लिए (उपदेश में) कहने में आता है। ५३.

‘मैं’ वर्तमान में ही समझण का पिण्ड हूँ। ५४.

प्रश्न :- शास्त्र में तो प्रयत्न करना....प्रयत्न करना, ऐसी बात आती है?

उत्तर :- प्रयत्न करने के लिए कहने में आता है; प्रयत्न होता भी है; लेकिन प्रयत्न भी तो पर्याय है। ‘मैं तो पर्याय मात्र से भिन्न हूँ’, प्रयत्न क्या करें? - सहजरूप होता है। प्रयत्न आदि का ‘होना’ पर्याय का स्वभाव है। ‘मैं’ उसमें न आता हूँ, न जाता हूँ; ‘मैं’ त्रिकाली हूँ - ऐसी दृष्टि में प्रयत्न सहज होता है। ७१.

आखी वस्तु (प्रमाण का विषय) बताने में नित्य और अनित्य बताने में आता है; इसमें अनित्य अंग दूसरे (द्रव्य) का नहीं है, ऐसा बताने के लिए है। परंतु दृष्टि का विषय तो ‘नित्य ही हूँ’ है, और अनित्य मेरे से भिन्न ही है। उसका (उत्पाद-व्यय का) भाव और मेरा (ध्रुव का) भाव विरुद्ध है। ७५.

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (फरवरी-२०२०) का शुल्क श्री अतीन जैन, भावनगर के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।